११

विविध आयामों में : स्वरूप-दर्शन

चैतन्य का महासागर हमारे अन्तर् में अनन्त-अनन्त काल से हिलोरें मारता चला आ रहा है। चेतना के इस विराट् सागर को छोटे से पिण्ड में समाया हुआ देखकर, एक ओर आश्चर्य भी होता है, तो दूसरी ओर उसकी अनन्त शक्ति पर प्रसन्नता भी। चेतना का जो विराट् स्वरूप हमारे भीतर प्रकाशमान है, वही स्वरूप एक चींटी और चींटी से भी असंख्य गुणे छोटे प्राणी के अन्तर् में प्रकाशित हो रहा है। वहाँ भी चैतन्य का वही रूप छिपा हुआ है। महासागर के तट पर जिधर भी नजर उठाकर देखो, उधर ही लहरें मचलती हुई दीखेंगी। यही बात जीवन के महासागर के किनारे खड़े होकर देखने से लगेगी कि चैतन्य के महासागर में चारों ओर से असंख्य-असंख्य लहरें उछल रही हैं, उसकी कोई सीमा नहीं है, चैतन्य के अनन्त भाव इस महासागर में तरंगित हो रहे हैं।

यह बात नहीं है कि सिर्फ देवता और चक्रवर्ती के जीवन में या मानव के जीवन में ही चेतना की अनन्त धाराएँ प्रस्फुटित होती रहती हैं, बल्कि चींटी और मच्छर जैसे क्षुद्र जीवों में भी वही धारा अपने अनन्त-अनन्त रूपों में बहती रहती है, भले ही उनकी अव्यक्त चेतना के कारण हमारी समझ में उनका सही रूप आए या नहीं ! किन्तु जीवन के अव्यक्त या कम विकसित होने के कारण चेतना की धाराएँ लुप्त नहीं हो सकतीं। किसी के जीवन में वे धाराएँ गलत रूप से बह रही होती हैं, तो किसी के जीवन में सही रूप में। देखना यह है कि वे धाराएँ, वे लहरें, जीवन के निर्माण में हाथ बँटा रही हैं, उसे अभ्युत्थान की ओर ले जा रही हैं या विनाश तथा पतन की ओर ! विनाश, पतन और विध्वंस की ओर जो धाराएँ बह रही हैं, उनके वेग को, उनकी दिशा को मोड़ देना, निर्माण की ओर लगाना, यह हमारी व्यक्त चेतना का काम है।

चेतन की मूल भावना :

दर्शनशास्त्र ने जो चिन्तन, मनन और अनुभव किया है, सत्य का जो साक्षात्कार किया है, उसका निचोड़ यही है कि अन्तर् में सबका मूल चेतन समान है, उसमें कोई भेद नहीं है। जो भेद दिखाई देता है, वह बाहर के रूपों में है, बाहरी धाराओं में है। बाहर में जो गलत धाराएँ, लहरें उछल रही हैं, उन्हें चाहे भावनाएँ कह दीजिए, वृत्तियाँ या आदत कह लीजिए, और भी हजार नाम हो सकते हैं, उनका जो प्रवाह असत् की ओर है, असत् रूप में जो वे बह रही हैं, उनका प्रवाह मोड़ देना है और मूल अन्तर् की जो पवित्र शुद्ध धारा है, उसी के प्रवाह में उन्हें भी बदल देना है।

प्राणी में मूलतः पाँच वृत्तियाँ पाई जाती हैं, जो उसके भीतर निरन्तर जागृत रहती हैं, हलचल मचाती रहती हैं। चैतन्य जो है, वह एक अन्तर्-तत्त्व है। वह न कभी जन्म लेता है, न कभी मरता है, न कभी जवान होता है, न कभी बूढ़ा। जब बूढ़ा नहीं होता, पुराना नहीं होता, तो फिर बचपन और नयापन का प्रश्न ही नहीं उठता। मृत्यु उसी की होती है, जो जन्म लेता है। और, जो जन्म लेता है, वह मरता भी अवश्य है। इस चेतन ने कभी जन्म धारण नहीं किया, यह सदा जीवित रहता है, इसीलिए इसका नाम जीव है। जीव क्या है ? जो सदा जीवित रहे, जीने की भावना में रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिजीविषा—जीने की इच्छा प्राणिमात्र का स्वभाव है। एक आचार्य ने तो यहाँ तक कहा है कि—

"अमेध्य-मध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये।
सदृशी जीवने वाञ्छा तुल्यं मृत्युभयं द्वयोः ॥"

देवेन्द्र जिसके कि एक संकेत पर हजारों हजार देवता हाथ जोड़े खड़े रहते हैं, अपार सुख और वैभव जिसके चरणों में लोटता है, उसमें जो जीने की लालसा है, वही लालसा एक गन्दी मोरी के कीड़े में भी है। जो कीड़ा गन्दगी में कुलबुला रहा है, उसे यदि छू दिया जाए, छेड़ दिया जाए, तो वह भी बचने के लिए अपने शरीर को संकुचित करने की चेष्टा करता है, हलचल मचाता है और इधर-उधर अपनी रक्षा के लिए प्रयत्न करता है। उसमें भी जीने की उतनी ही तीव्र लालसा है, जितनी कि देवराज इन्द्र में है। यों समझ लीजिए कि जीवन जितना देवेन्द्र को प्रिय है, उतना ही उस कीड़े को भी प्रिय है।

जीना स्वभाव है :

जीना जीव का स्वभाव है। आप और हम जीना चाहते हैं, संसार का सबसे छोटे से छोटे-प्राणी—कीड़े-मकोड़े तक जीना चाहते हैं। कोई पूछे कि क्यों जीना चाहते हैं? तो उत्तर यही है कि उनका स्वभाव है। कोई मरता क्यों है? यह एक प्रश्न हो सकता है, बीमारी से मरता है, अपघात से मरता है, एक्सीडेंट से मरता है, इसके हजारों उत्तर हो सकते हैं, हजारों कारण हो सकते हैं। पर, जीता क्यों है, इसका एक ही कारण है कि जीना उसका स्वभाव है, जीवन चाहना प्राणी का लक्षण है। लक्षण कभी बदलता नहीं। संसार के समस्त प्रयत्न किसलिए चल रहे हैं? मजदूर कड़ी चिलचिलाती धूप में कठोर परिश्रम कर रहा है, उससे पूछो तो कहेगा, पेट के लिए? और पेट किसलिए भरना चाहता है? इसे खाली रहने दिया जाए, तो क्या होगा? जीवन का क्या होगा? यह होगा कि दो-चार-दस दिन भूखे रहें, पेट में अन्न-जल नहीं गया, तो दुनिया 'राम नाम सत्' कहकर पहुँचा देगी उस घाट पर, जहाँ सबकी राख हो जाती है। मतलब यह है कि प्रत्येक प्रयत्न का मूल कारण यही जीने की भावना है—जिजीविषा है। जीने के लिए संघर्ष करने होते हैं, कष्ट और द्वन्द्व झेलने होते हैं, पीड़ा और यातनाएँ सहकर भी कोई मरना नहीं चाहता। इधर-उधर की कुछ समस्याओं से घबड़ाकर आदमी कहता है कि मर जाएँ तो अच्छा है, पर, जब उन समस्याओं का समाधान हो जाता है, तो फिर कोई नहीं कहता कि मर जाएँ तो ठीक है। कहावत है "मौत मौत पुकारने वाली बुढ़िया को जब मौत आती है, तो पड़ोसी का घर बताती है।"

संसार का यह अजर-अमर सिद्धान्त है कि प्रत्येक प्राणी चाहे वह कष्ट में जीता हो, पीड़ाओं में से गुजर रहा हो, या सुख और आनन्द में जीवन बिता रहा हो, दोनों के जीवन की इच्छा समान है—**"सदृशी जीवने वाञ्छा।"**

जिजीविषा जीव का स्वभाव है और प्रत्येक प्राणी इस स्वभाव की साधना कर रहा है। हमारी साधना इसी दृष्टिकोण से पल्लवित हुई है। साधना स्वरूप की होती है, स्वभाव की होती है। अग्नि की साधना उष्ण रहने की साधना है, उसे शीतल रखने की यदि कोई साधना करे, तो वह बेवकूफी होगी। हवा की साधना अनवरत चलते रहना है, उसे यदि स्थिर रखने की साधना कोई करे, तो वह उसके स्वरूप की विपरीत साधना होगी। हमारे जीवन की साधना अमरता की साधना है, कभी नहीं मरने की साधना है, और हमारा साध्य भी अमरता है। मरने की साधना कोई नहीं करता, चूंकि वह स्वरूप नहीं है, हम स्वरूप के उपासक हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमरता की उपासना :

भारतीय दर्शन की अन्तिम परिणति यही है कि तुम अपने स्वरूप को समझ लो, बस यही तुम्हारी साधना है। स्वरूप को जब पहचान लिया कि अमर रहना, यह हमारा—चैतन्य का स्वरूप है, तो अमरता की साधना प्रारम्भ हो जाती है। अमर रहने के लिए ही हमारी साधना चलती है, इससे आगे कहूँ तो यह कह सकता हूँ कि जीने के लिए ही हमारी साधना चल रही है। आप कहेंगे कि "क्या इतने छिछले स्तर पर हमारी साधना है? सिर्फ जीने के लिए?" मैं पूछूँ—"यदि जीने के लिए नहीं है, तो क्या मरने के लिए है?" जीना और मरना दो ही तो दृष्टियाँ हैं। मरना गलत दृष्टि है, जीना सही दृष्टि है। मरण नहीं, बल्कि अनन्त जीवन को केन्द्र मानकर ही साधना-क्षेत्र की समस्त साधनाएँ चलती हैं।

मैं अपने आपको क्यों नहीं मारता? इसीलिए कि आत्म-हत्या करना पाप है। पाप क्यों है? पाप यों है, कि वह स्वभाव के विरुद्ध है। अपने को मारना पाप है, तो मतलब यह हुआ कि मृत्यु ही पाप है।

कोई अपने आपको 'शूट' कर ले, तो उसने किसी दूसरे की जान तो नहीं लूटी? फिर आप गुरु से पूछें, तो वे कहेंगे—यदि दूसरे को मारना पाप है, तो अपने को मारना महापाप है। आत्म-हत्या करने वाला नरक में जाता है। कानून से पूछो, तो वह कहेगा, यह अपराध है। आत्म-हत्या का प्रयत्न करते हुए कोई पकड़ा गया, तो वह अपराधी है, उसे दण्ड मिलता है।

कोई जी रहा है, और वह पूछे कि क्या यह जीना भी पाप है? तो क्या कोई कहेगा कि हाँ, जीना पाप है? जीना भी पाप है, मरना भी पाप है, तो फिर संसार में धर्म क्या रह गया? धर्म कहता है कि—न तू मर! न किसी को मार! बस यही धर्म है।

भगवान् महावीर ने अहिंसा का उद्गम भी इसी जिजीविषा के अन्दर से बताया है। दशवैकालिक में कहा है—

> "सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।
> तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥" ६, ११.

संसार के समस्त प्राणी जीना चाहते हैं, जीने की कामना, इच्छा प्रत्येक प्राणी के भीतर विद्यमान है, मरना कोई नहीं चाहता, इसीलिए किसी का वध करना, मारना, पाप है। मतलब यह है कि 'जीना' यह स्वरूप है और स्वरूप धर्म है। आप देखेंगे कि अहिंसा का स्वर किस भावना से फूटा है? जीवित रहने की भावना से ही न! हम प्रत्येक प्राणी के प्रति सहृदय रहते हैं। सहृदय की साधना आखिर क्यों है? सभी प्राणी एक-दूसरे के प्रति सहृदय रहें। परस्पर सहृदयता, प्रेम, करुणा, सहयोग—ये सब हमारी जीवित रहने की भावना के ही विकसित रूप हैं। उसी महावृक्ष की ये अनेक शाखाएँ हैं।

सुख की भावना :

दूसरी भावना—सुख की भावना है। हम इस विश्वमंडल की अनन्त-अनन्त परिक्रमा कर चुके हैं और कर रहे हैं, लेकिन किसलिए? सुख के लिए ही तो! सुख की भावना और कामना से प्रेरित होकर प्रत्येक प्राणी प्रयत्नशील रहता है। निष्कर्ष यह है कि सुख आत्मा का स्वरूप है। स्वरूप की माँग, खोज आत्मा करती है। भगवान् का स्वरूप वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि वह आनन्दमय है। इसके आगे बढ़े तो कह दिया कि वह सच्चिदानन्द रूप है। सद्, चिद् और आनन्द, यह एक सर्वोच्च शिखर की बात है। उच्चतम आनन्द की भावना इसके साथ जुड़ी है। इससे यह तो हमने समझ ही लिया कि भगवान् का स्वरूप आनन्दमय है, सुखमय है। जो उसका स्वरूप है, वही हमारा स्वरूप है। स्वरूप, उसका और हमारा भिन्न नहीं है। जो भगवान् का स्वरूप है, वह प्रत्येक प्राणी का स्वरूप है। तभी हम कहते हैं कि प्रत्येक घट में भगवान् का वास है। जब तक उस आनन्द की उपलब्धि नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाती है, तब तक प्राणी उसे पाने के लिए प्रयत्न करता रहता है। यह बात दूसरी है कि जो सुख नहीं है, उसे भी हमने अज्ञानवश सुख की कल्पना से जोड़ लिया है। धन-परिवार और भोग का सुख, अज्ञान की कल्पना के साथ जुड़ा है। पर, यह अज्ञान भी तो हमारा ही है। ज्ञान ही तो विपरीत एवं विकृत होने पर अज्ञान होता है। और जो अज्ञान को समझता है कि यह 'अज्ञान है' वही ज्ञानी होता है। आप अँधेरे में चल रहे हैं, कोई ठूँठ खड़ा दिखाई दिया। आपने भ्रान्त कल्पना की, शायद कोई आदमी है, पर जब प्रकाश की कोई किरण चमकी और आपने देखा कि यह आदमी नहीं, ठूँठ है, तो यह पहले का अज्ञान दूर हो कर ज्ञान हो गया। अपना अज्ञान वही समझ सकता है, जो चिन्तक है। अज्ञान क्या है—विपरीत ज्ञान, या भ्रम! ज्ञान का अभाव अज्ञान नहीं है। वह अज्ञान तो जड़ के पास है, जिसे कभी भी ज्ञान नहीं हो पाता। चेतन के स्वभाव में यह अज्ञान रह नहीं सकता। भले ही ज्ञान की गति विपरीत चल रही हो, परन्तु वह समय पर ठीक हो सकती है। किसी के पास बहुत-सा धन है, तो वह धनी है, फिर उस धन का गलत उपयोग करता है, तो यह बात दूसरी है, किन्तु समय पर ठीक उपयोग भी कर सकता है।

मैं कह रहा था कि अज्ञानवश जिसे सुख समझ लिया है और उसके पीछे दौड़ लगा रहे हैं, वह भी हमारी तीव्र सुखेच्छा का व्यक्त रूप है। इसीलिए एक दिन भगवान् महावीर ने कहा था—

'सव्वे पाणा सुहसाया, दुह पडिकूला।' —आचारांग, १, २, ३.

भूमंडल के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं, सुख उन्हें प्रिय है, सुख की साधना कर रहे हैं, दुःख से कतराते हैं। सुख का यह स्वर कहाँ से आया? सुख की कामना क्यों जगी हमारे अन्दर? इसीलिए न कि सुख हमारा स्वरूप है? स्वयं सुखी रहना, यही हमारी साधना है। आपको कोई सुखी देख कर यह पूछे कि आप सुखी क्यों हैं? तो क्या उत्तर होगा आपका? शायद आपका टेम्प्रेचर चढ़ जाए और आप डाँटते हुए कह उठें कि तुम्हें इसकी क्या पड़ी कि हम सुखी क्यों हैं? प्रसन्न क्यों हैं? सुखी नहीं, तो क्या दुःखी रहें? मुहर्रमी सूरत बनाए बैठे रहें? संसार में मुँह लटकाए घूमते रहें? यह जीवन सुख के लिए है, सुखी और प्रसन्न रहने के लिए है। हँसने और हँसाने के लिए है, रोने-चीखने के लिए नहीं।

साधना में दुःखानुभूति क्यों?

कभी-कभी हमारे साधक कहते हैं कि सुखी रहने की बात कुछ समझ में नहीं आती। मैं पूछता हूँ कि इसमें क्या आपत्ति है? तो कहते हैं—"साधना करते-करते तो दुःख का अनुभव होता है, कष्ट और पीड़ाएँ होती हैं।" मैं कहता हूँ, यदि साधना करते हुए दुःख की अनुभूति जगती है, मन खिन्न होता है, तो वह साधना कैसी? ऐसी दुःखमयी साधना से तो साधना न करना ही अच्छा है। साधना का तो अर्थ है—उपासना! किन्तु उपासना किसकी? अपने स्वरूप की ही न! लेकिन स्वरूप क्या है? आनन्दमय। मतलब यह हुआ कि सुख की साधना करते समय दुःख का अनुभव होता है, यह तो गलत बात है। अमृत पीते हुए जहर-सी कड़वी घूँट लगती है, तो या तो अमृत नहीं है, या फिर पीना नहीं आया है। साधना में तो आनन्द और सुख की रसधारा बहनी चाहिए। जिस साधना के उत्स से सुख का स्रोत न फूटे, वह साधना ही क्या? वह तो परवशता की साधना है, जिसमें क्लेश और पीड़ा के काँटे चुभते रहते हैं। वह स्वतंत्र साधना कदापि नहीं है। जिस साधना में दुःख की, उद्विग्नता की, खिन्नता की अनुभूति होती है, उससे कर्मों की निर्जरा क्या होगी, नए कर्मों का बंध ही होगा? जहाँ मन में दुःख है, वहाँ परवशता है, जहाँ परवशता है, वहाँ बन्धन है। अतः वह साधना तो उलटे कर्मबन्ध का कारण ही बन गई। अतः मैंने कहा कि ऐसी साधना से, तो साधना नहीं करना अच्छा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर का दुःखी और कष्टमय होना एक अलग बात है और मन का दुःखी होना अलग बात। साधना शरीर की नहीं, चैतन्य की होती है।

अभिप्राय यह है कि यदि शरीर को कष्ट होता हो, तो भले ही हो, वह जड़ है, किन्तु चैतन्य को कष्ट नहीं होना चाहिए। आत्मा की प्रसन्नता बनी रहनी चाहिए। मैं तो कभी-कभी कहता हूँ कि यदि तपस्या करने से आत्मा की प्रसन्नता और मन की स्वस्थता बनी रहती है, तब तो ठीक है, और यदि आत्मा कष्ट पाती है, मन को क्लेश होता है, खिन्नता बढ़ती है, तो वह तपस्या कोई कल्याण करने वाली नहीं है, सिर्फ देह-दंड है, अज्ञान तप है। आचार्यों ने ठीक ही कहा है--

"सो नाम अणसण तवो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेई।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति।।"

संयम की साधना इसलिए की जाती है कि उससे आत्मा में प्रसन्नता जगती है। भावनाएँ शुद्ध, पवित्र एवं शान्त रहती हैं। यदि संयम पालते हुए भावना अशान्त हो, हृदय क्षुब्ध हो, मन विषय-भोग के लिए तड़पता हो, तो वह साधना, एक धोखा भर है। धोखा अपनी आत्मा के साथ भी और संसार के साथ भी, जो तुम्हें सच्चा साधक समझ रहा है।

भगवान् ने बतलाया है कि जिस साधक का मन साधना के रस में रम गया है, उसे साधना में आनन्द आता है। शरीर के कष्टों से उसकी आत्मा कभी विचलित नहीं होती। यदि कभी मन चंचल हो भी गया, तो शीघ्र ही उसे पुनः शान्त और समाधिस्थ कर लेता है।

हमारे कुछ साधक यह भी कहते हैं कि साधना में पहले दुःख होता है और बाद में सुख! किन्तु यह तो बाजारू भाषा है। यह निरी सौदेबाजी की बात है कि कुछ दुःख सहो तो फिर सुख मिले। जिस साधना के आदि में ही दुःख है, कष्ट है, उसके मध्य में और अन्त में सुख कहाँ से जन्म लेगा? यह साधना की सही व्याख्या नहीं। साधना तो वह है, जिसके आदि में भी सुख और प्रसन्नता स्वागत के लिए खड़ी रहे, आनन्द की लहरें उछलती मिलें, और मध्य में भी सुख तथा अन्त में भी सुख। वास्तव में साधक के सामने दैहिक कष्ट, कष्ट नहीं होते, उन्हें मिटाने के लिए उसकी साधना भी नहीं होती। साधना होती है, आत्मा की आध्यात्मिक प्रसन्नता और सहज आनन्द के लिए।

एक बार की बात है। वनवास के समय युधिष्ठिर ध्यान-मग्न बैठे थे। ध्यान से उठे तो द्रौपदी ने कहा--"धर्मराज! आप भगवान् का इतना भजन करते हैं, इतनी देर ध्यान में बैठे रहते हैं, फिर उनसे कहते क्यों नहीं कि वे इन कष्टों को दूर कर दें। कितने वर्ष से वन-वन भटक रहे हैं, कहीं कठोर नुकीले पत्थरों पर रात गुजरती है, तो कहीं कंकरों में, धूल में। कभी प्यास के मारे गला सूख जाता है, तो कभी भूख से पेट में बल पड़ने लगते हैं। भगवान् से कहते क्यों नहीं कि इन संकटों का वे अन्त कर डालें।"

धर्मराज ने कहा--"पांचाली! मैं भगवान् का भजन इसलिए नहीं करता कि वह हमारे कष्टों में हाथ बटाएँ। यह तो सौदेबाजी हुई। मैं तो सिर्फ आनन्द के लिए भजन करता हूँ। उसके चिन्तन से ही मेरे मन को प्रसन्नता मिलती है। जो आनन्द मुझे चाहिए, वह तो बिना माँगे ही मिल जाता है। अतः इसके अतिरिक्त और कुछ माँगने के लिए मैं भजन नहीं करता।"

साधना का यह उच्च आदर्श है कि वह जिस स्वरूप की साधना करता है, वह स्वरूप आनन्दमय है, उससे जीवन में सहज सुख का अमृत-निर्झर फूट पड़ता है, चारों ओर प्रसन्नता छा जाती है। सुख की इस साधना से अहिंसा का यह स्वर दृढ़ होता है, कि तुम स्वयं भी सुखी रहो और दूसरों को भी सुखी रहने दो। इतना ही नहीं, अपनी शक्ति और साधनों से दूसरों को भी सुखी बनाओ। स्व और पर के सुख की साधना ही अपने आनन्द-स्वरूप की सच्ची आराधना है।

जो स्वयं ही मुहर्रमी सूरत बनाए रहता है, वह दूसरों को क्या खुश रखेगा? स्वयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के जीवन को ही जो भार के रूप में ढो रहा है, वह संसार को जीने का क्या सम्बल देगा ? इसीलिए साधना अन्तर्मुखी होनी चाहिए। स्वयं जीएँ, और दूसरों को जीने दें, स्वयं खुश रहें और दूसरों को खुश रहने दें। किसी की खुशी और प्रसन्नता को लूटने की कोशिश न करें।

स्वतन्त्रता की भावना :

आत्मा की तीसरी भावना, स्वतन्त्रता की भावना है। यह बात तो हम युग-युग से सुनते आए हैं कि कोई भी आत्मा बन्धन नहीं चाहती। विश्व में बन्धन और मुक्ति की लड़ाई सिर्फ साधना के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि जीवन के हर एक क्षेत्र में चल रही है। कोई भी व्यक्ति गुलाम रहना नहीं चाहता। हर कोई स्वतन्त्र रहना पसन्द करता है। एक देश, दूसरे देश की गुलामी और अधिकार में नहीं रहना चाहता। एक जाति, दूसरी जाति के दबाव में रहना पसन्द नहीं करती।

आजादी और गुलामी के साथ यह भी बात समझ लेना आवश्यक है कि हमारी भावनाएँ अर्थात् मनुष्य की भावनाएँ गुलामी और मुहब्बत के दायरे में, बिलकुल अलग-अलग हैं। जबतक पुत्र के दिल में पिता के प्रति प्रेम और भक्ति है, जबतक भाई का भाई के प्रति प्रेम है, तबतक वह उसकी सेवा और मिन्नतें करने को तैयार रहता है। कभी उसके मन में इस तरह की कल्पना नहीं उठती कि मैं किसी की गुलामी कर रहा हूँ। किन्तु जब प्रेम का सम्बन्ध टूट जाता है, तो वह एक बात भी उसकी नहीं मानना चाहता। हर बात को वह गुलामी की दृष्टि से देखने लग जाता है। पति-पत्नी में जब तक प्रेम है, दोनों एक-दूसरे की हजार-हजार सेवाएँ करने को तैयार रहते हैं, पर पत्नी के मन में भी जब यह आ गया कि पति मुझे गुलाम समझता है, अपनी दासी समझता है, तो वह भी अकड़ जाती है। उसके लिए अपना बलिदान नहीं कर सकती। गुलामी की अनुभूति के साथ ही उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है और स्वतन्त्रता को कोई भी प्राणी किसी भी मूल्य पर खोना नहीं चाहता।

हमारे यहाँ मानव सभ्यता के आदियुग का प्रसंग आता है। भरत और बाहुबली सगे भाई थे, बड़ा प्रेम था दोनों में। बाहुबली हर क्षण भरत की सेवा में रहते थे, उनका सम्मान करते थे और उन्हें प्राणों से भी अधिक चाहते थे। पर, जब भरत चक्रवर्ती बनते हैं और बाहु-बली को कहलाते ह कि आओ, हमारी सेवा करो, वफादारी की शपथ लो ! तो बाहुबली कहते हैं, मेरा तो भाई के साथ प्रेम का सम्बन्ध चला ही आया है, भाई की सेवा में सदा ही तत्पर रहा हूँ, किन्तु अब यह नयी बात क्या आ गई ? भाई के नाते मैं हजार सेवा कर सकता हूँ उनकी ! हाथ जोड़े उनकी सेवा में दिनरात खड़ा रह सकता हूँ, पर यदि वह गुलाम-सेवक के नाते मुझे बुलाना चाहते हैं, तो, भाई तो क्या, मैं अपने बाप की भी सेवा करना स्वीकार नहीं करूंगा। बस, युद्ध शुरू हो गया और जो कुछ हुआ, वह आपको मालूम ही है। उसने अपनी स्वतन्त्रता नहीं त्यागी। अन्त में विजय प्राप्त करके भी जब देखा कि वास्तव में भरत को चक्रवर्ती होना है, तो जीते हुए साम्राज्य को भी लात मारकर चल पड़े, स्वतंत्रचेता मुनि हो गए।

स्वतन्त्रता : आत्मा का स्वभाव है :

अभिप्राय यह है कि हर आत्मा में स्वतन्त्र रहने की वृत्ति बड़ी प्रबल है। प्रेम के वश वह किसी का सेवक हो सकता है, पर गुलाम बन कर किसी के बन्धन में नहीं रहना चाहता। क्यों नहीं रहना चाहता ? इसका भी यही एक उत्तर है कि स्वतन्त्रता आत्मा का स्वभाव है, स्वरूप है और उसका अधिकार है। स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, यह नारा भारतीय संस्कृति का नारा है, धर्म और संस्कृति का स्वर है।

एक जड़ पदार्थ को आप किसी डिबिया में बन्द करके रख दीजिए, वह हजार वर्ष तक भी बन्द रहेगा, तो भी कोई हलचल नहीं मचाएगा, आजादी के लिए संघर्ष नहीं करेगा, किन्तु यदि किसी क्षुद्रकाय चूहे को भी पिंजड़े में डाल दिया जाए, तो वह भी छूटने के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छटपटाने लग जाता है। दो क्षण में ही वह उछल/कूद मचाने लग जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्र रहना आत्मा का, चेतन का स्वभाव है। स्वभाव से विपरीत वह कभी नहीं जा सकती।

हम साधना के द्वारा मुक्ति की बात क्यों करते हैं? मोक्ष की अपेक्षा बाहर में स्वर्ग की मोहकता अधिक है, भोगविलास है, वहाँ ऐश्वर्य का भण्डार है। फिर भी स्वर्ग के लिए नहीं, किन्तु मुक्ति के लिए ही हम साधना क्यों करते हैं? मोक्ष में तो अप्सराएँ भी नहीं हैं, नृत्य-गायन भी नहीं है? बात यह है कि यह भौतिक सुख भी आत्मा का बन्धन ही है। देह भी बन्धन है, काम, क्रोध, ममता आदि भी बन्धन हैं, विकार और वासना भी बन्धन है और आत्मा इन सब बन्धनों से मुक्त होना चाहती है? भौतिक प्रलोभनों और लालसाओं के बीच हमारी आजादी दब गई है। सुख-सुविधाओं से जीवन पंगु हो गया है, इन सबसे मुक्त होना ही हमारी आजादी की लड़ाई का ध्येय है। इसीलिए हमारी साधना मुक्ति के लिए संघर्ष कर रही है। मुक्ति हमारा स्वभाव है, स्वरूप है। वहाँ किसी का किसी तरह का बन्धन नहीं, किसी की गुलामी नहीं।

आचार्य जिनदास ने कहा है—**'न अन्नो आणायव्वो'** तू दूसरों पर अनुशासन मत कर। आदेश मत चला। अपना काम स्वयं कर। जैसा तुझे दूसरों का आदेश और शासन अप्रिय लगता है, वैसे ही दूसरों को भी तेरा शासन अप्रिय लगता है। कोई किसी के हुकुम में, गुलामी में रहना पसन्द नहीं करता।

कुछ लोग अमीरी के मधुर-स्वप्नों में रहते हैं। पानी पिलाने के लिए नौकर, खाना खिलाने के लिए भी नौकर, कपड़े पहनाने के लिए भी नौकर, मैंने यहाँ तक देखा है कि यदि जूते पहनने हैं, तब भी नौकर के बिना नहीं पहने जाते। यह इज्जत है या गुलामी? यदि यह इज्जत है भी तो किस काम की है यह इज्जत, जहाँ मनुष्य दूसरों के अधीन होकर रहता है। आज का मानव स्वतन्त्रता की बात करता है, पर वह दिन प्रतिदिन यंत्रों का गुलाम होता जा रहा है। यंत्रों के बिना उसका जीवन पंगु हो गया है। विज्ञान का विकास अवश्य हुआ है, जीवन के लिए उसका उपयोग भी है, पर जीवन को एकदम उसके अधीन तो नहीं कर देना चाहिए? इधर हम स्वतन्त्रता की बात करते हैं और उधर पराश्रित होते चले जा रहे हैं! अन्न आदि आवश्यक वस्तुओं के मामले में भी देश आज परमुखापेक्षी हो रहा है। आज हमारा राष्ट्रिय चिन्तन इन सब परवशताओं को तोड़ने के लिए प्रयत्नशील है। क्योंकि उसे स्वतन्त्र रहना है, किसी का गुलाम नहीं रहना है, राजनीतिक आजादी, सामाजिक आजादी और आर्थिक आजादी तथा इन सबके ऊपर अंत में आध्यात्मिक आजादी—हमारे महान् आदर्श हैं। हमें इसी ओर बढ़ना है, अपने स्वतन्त्रता रूप निज स्वरूप की ओर जाना है।

जिज्ञासा : चेतन का धर्म :

चौथी वृत्ति है—जिज्ञासा की। ज्ञान पाने की इच्छा ही जिज्ञासा है, सुख और स्वतन्त्रता की भावना की तरह यह भी नैसर्गिक भावना है। चैतन्य का लक्षण ही ज्ञान है। **'जीवो उवओग-लक्खणो'** भगवान् महावीर की वाणी है कि जीव का स्वरूप ज्ञानमय है। इसके दो कदम और आगे बढ़कर, यहाँ तक कह दिया गया है कि जो ज्ञाता है, वही आत्मा है, जो आत्मा है, वही ज्ञाता है—**'जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।'** वैदिक परम्परा में भी यही स्वर मुखरित हुआ—**'प्रज्ञानं ब्रह्म।'** मतलब यह कि ज्ञान आत्मा से कोई अलग वस्तु नहीं है, "जो चेतन है, वही ज्ञान है और जो ज्ञान है, वही चेतन है।"

छोटे-छोटे बच्चे जब कोई चीज देखते हैं, पूछते रहते हैं कि—यह क्या है? वह क्या है? हर बात पर उनके प्रश्नों की झड़ी लगी रहती है। आप भले उत्तर देते-देते तंग आ जाएँ, पर वह पूछता-पूछता नहीं थकता, कभी नहीं थकता! वह सृष्टि का समस्त ज्ञान अपने अन्दर में भर लेना चाहता है, सब-कुछ जान लेना चाहता है। वह ऐसा क्यों करता है? जानने की इतनी उत्कण्ठा उसमें क्यों जग पड़ी है? इसका मूल कारण यही है कि जानना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका स्वभाव है। जिज्ञासा प्राणिमात्र का धर्म है। भूख लगना जैसे शरीर का स्वभाव है, वैसे ही ज्ञान की भूख जगना, आत्मा का स्वभाव है।

किसी भी अनजानी नई चीज को देख-सुनकर हमारे मस्तिष्क में सहज ही 'क्या ? क्यों ? किसलिए ?' के प्रश्न खड़े हो जाते हैं। हम उस नई वस्तु को, अनजानी चीज को जानना चाहते हैं। जब तक जान नहीं लेते, मन को शान्ति नहीं हो पाती, समाधान नहीं हो पाता। तात्पर्य यह है कि जब तक जिज्ञासा जीवित है, तब तक ही हमारा जीवन है। जब अन्न से अरुचि हुई, भूख समाप्त हुई, तो समझ लीजिए अब टिकट बुक हो गया है, अगली यात्रा शुरू होने को है। ज्यों ही नित्य नये-नये प्रश्नों को जानने की वृत्ति समाप्त होती है, त्यों ही ज्ञान का दरवाजा बन्द हो जाता है, जीवन की प्रगति और उन्नति रुक जाती है, आत्मा अज्ञान-तमस् में ठोकरें खाने लग जाती है, विकास अवरुद्ध हो जाता है। जानने की यह वृत्ति बच्चे में भी रहती है, युवक में भी जगती है और बूढ़ों में भी होती है। हर एक हृदय में यह वृत्ति जगती रहती है। वह जो देखता है, सुनता है उसका विश्लेषण करना चाहता है। उसका ओर-छोर जानना चाहता है, बिना जाने उसकी तृप्ति नहीं होती।

जिज्ञासा : ज्ञान का भंडार :

आगम में हम पढ़ते हैं कि गणधर गौतम ने अमुक वस्तु देखी, अमुक बात सुनी, तो मन में संशय पैदा हुआ, कुतूहल पैदा हुआ—**'जाय संसए, जाय कोउहले।'** और संशय का समाधान करने तुरन्त भगवान् महावीर के चरणों में पहुँच जाते हैं और पहुँचते ही प्रश्न कर देते हैं कि—"**कहमेयं भन्ते!**'—"भगवन्! यह बात कैसे है ? इसमें सत्य क्या है ?" गौतम गणधर के प्रश्नों का विशाल क्रम ही जैन साहित्य और दर्शन के विकास की सुदीर्घ परम्परा है। मैं कभी-कभी सोचता हूँ, 'महान् आगम वाङ्मय में से यदि गौतम के प्रश्नोत्तर एवं संवाद निकाल दिए जाएँ, तो फिर आगम साहित्य में विशेष कुछ रह नहीं जाएगा।' योरोप के अँग्रेजी साहित्य में जो स्थान शेक्सपियर आदि के साहित्य का है, संस्कृत-साहित्य में जो स्थान कालिदास आदि के साहित्य का है; जैनागमों में इन सबसे कहीं बढ़ कर स्थान गौतम के दार्शनिक एवं धार्मिक परिसंवादों का है। गौतम के प्रश्न और संवाद जैन आगमों की आत्मा है। प्रश्न हैं इस साहित्य को प्रेरणा का स्रोत क्या है ? कहाँ से उठती है इसके निर्माण की तरंग ? गौतम की जिज्ञासा से, संशय से। जो संशय ज्ञानाभिमुख होता है, वह बुरा नहीं होता। पूर्व और पश्चिम के अनेक दार्शनिक दर्शन की उत्पत्ति और विकास संशय से ही मानते हैं। क्या ? कैसे ? किसलिए ? यह दर्शन के विकास के मूल सूत्र हैं। यही सूत्र विज्ञान के भी जनक हैं। भारतीय विचारक ने तो यहाँ तक कह दिया **'नहि संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति'** संशय किए बिना मनुष्य कल्याण के दर्शन ही नहीं कर सकता। पुराने आचार्य ग्रन्थों का निर्माण करते समय सबसे प्रथम उसकी पृष्ठभूमि, जिज्ञासा पर खड़ी करते हैं—**'अथातो धर्म-जिज्ञासा'**—अब धर्म की जिज्ञासा, जानने की इच्छा प्रारम्भ की जाती है। इस प्रकार दर्शन और धर्म के साहित्य का निर्माण हुआ है जिज्ञासा से। सिर्फ साहित्य के विकास की ही बात मैं नहीं करता, मानवजाति का विकास भी जिज्ञासा के आधार पर ही हुआ है। जिज्ञासा ने ही मूर्ख को विद्वान् बनाया है, अज्ञानी को ज्ञान दिया है। हर एक आत्मा में जिज्ञासा पैदा होती है, वह उसका समाधान चाहती है और विकास करती जाती है। बात यह है कि सुख की इच्छा और स्वतन्त्रता की भावना की तरह, जिज्ञासा भी, आत्मा की सहज भावना है, स्वभाव है, उससे किसी को रोका नहीं जा सकता। रोकना गलत है। जिज्ञासा और उसके समाधान की परंपरा निरन्तर प्रवहमान रहनी चाहिए।

प्रत्येक प्राणी ईश्वर है :

पाँचवी भावना—प्रभुता की है। प्रत्येक प्राणी चाहता है कि संसार में वह स्वामी बनकर रहे, ईश्वर बनकर रहे। चूँकि आत्मा को जब परमात्मा माना गया है, ईश्वर का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप माना गया है, तो इसका मतलब यही हुआ कि वह अपने ईश्वरत्व को विकसित करना चाहता है। ईश्वर का अर्थ ही है स्वामी, समर्थ और प्रभु! इसलिए प्रभुता चाहना, कोई गलत बात नहीं है, यह तो आत्मा का स्वभाव है।

घर में एक बच्चा है, आजादी से रहता है, राजा बनकर रहता है, वह भी जब देखता है कि घर में उसका अपमान किया जा रहा है, उसकी बात सुनी नहीं जाती है, तो वह तिलमिला उठता है, उसका 'मूड' बिगड़ जाता है। बहू भी घर में जब आती है और देखती है कि इस घर में उसे सम्मान नहीं मिल रहा है, सास, ससुर आदि उसे दासी की तरह समझ रहे हैं, तो विशाल ऐश्वर्य होते हुए भी वह घर उसके लिए 'नरक' के समान बन जाता है। वह यही कहेगी "धन को क्या चाटूं? जहाँ सम्मान नहीं, वहाँ जीना कैसा? सुख कैसा?"

सहस्र-धारा-साधना :

साधना की पवित्र स्रोतस्विनी सहस्रधारा के रूप में बहती रही है। जीवन को यदि हम एक खेत के रूप में देखें, तो उसमें हजारों-हजार क्यारियाँ हैं, हजारों-हजार नालियाँ हैं, हजारों-हजार पेड़-पौधे हैं, उन्हें सरसब्ज रखने के लिए साधना की हजारों-हजार धाराएँ बहती रहनी चाहिएँ, उनके शीतल मधुर जल का स्पर्श जीवन के खेत में सतत होता रहना चाहिए।

जिस प्रकार खेती में कभी एक ही चीज नहीं बोई जाती, सैकड़ों-हजारों प्रकार के बीज बोए जाते हैं, सर्वांग खेती की जाती है, उसी प्रकार जीवन की साधना कभी एकांगी नहीं होती, वह सर्वांगीण होती है।

हमारी आत्मा का स्वरूप अनन्त गुणात्मक है। आचार्य माघनन्दी ने इस सम्बन्ध में कहा है—"**अनन्तगुणस्वरूपोऽहम्**"—यह आत्मा अनन्त गुणों का अक्षय कोष है।

यह बात कहने पर भी जब दार्शनिक आचार्य को लगा कि अभी बात पूरी कर नहीं सका हूँ, आत्मस्वरूप का परिचय पूर्णरूपेण नहीं दे सका हूँ, तो उन्होंने उपर्युक्त सूत्र को परिवर्धन के साथ पुनः दुहराया—

"**अनन्तानन्तगुणस्वरूपोऽहम्**"

—अनन्त ही नहीं, अनन्त-अनन्त गुणों का समवाय है, यह आत्मा। अनन्त को अनन्त से गुणन करने पर अनन्तानन्त होता है।

जीवन की सर्वांग सुन्दरता :

अनन्त को अनन्त बार दुहराने का समय न आपके पास है और न मेरे पास। इस जीवन में क्या, अनन्त जन्मों तक प्रयत्न करने पर भी हम उसके अनन्त स्वरूप को दुहरा नहीं सकते।

तथापि यह अभीष्ट है कि जीवन जो अनन्तानन्त गुणों का समवाय है, अनेक रूपों में उसकी सर्वांग सुन्दरता प्रस्फुटित होनी चाहिए, उसके विभिन्न अंगों का विकास होना चाहिए। अगर जीवन का विकास एकांगी रहा, जीवन में किसी एक ही गुण का विकास कर लिया और अन्य गुणों की उपेक्षा कर दी गई, तो वह विकास, वस्तुतः विकास नहीं होगा, उससे तो जीवन बेडौल एवं अनगढ़ हो जाएगा।

कल्पना कीजिए, कोई ऐसा व्यक्ति आपके सामने आए, जिसकी आँखें बहुत सुन्दर हैं, तेजस्वी हैं, पर नाक बड़ी बेडोल है, तो क्या वह आँख की सुन्दरता आपके मन को अच्छी लगेगी? किसी आदमी के हाथ सुन्दर हैं, किन्तु पैर बेडोल ह, किसी का मुख सुन्दर है, किन्तु हाथ-पैर कुरूप और बेडौल हैं, तो इस प्रकार की सुन्दरता, कोई सुन्दरता नहीं होती। सुन्दरता वही मन को भाती है, आँखों को सुहाती है, जो सर्वांग सुन्दर होती है। जब समस्त अवयवों का, अंगोपांगों का उचित रूप से निर्माण और विकास होता है, तभी वह सुन्दरता सुन्दरता कहलाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार तन की सर्वांग सुन्दरता अपेक्षित होती है, उसी प्रकार जीवन की भी सर्वांग सुन्दरता अपेक्षित है। जीवन का रूप भी सर्वांग सुन्दर होना चाहिए। वह जीवन ही क्या, जिसका एक कोण सुन्दर हो और अन्य हजारों-लाखों कोण असुन्दर तथा अभद्र हों।

एक मनुष्य है, सेवा बहुत करता है, रात-दिन सेवा में जुटा रहता है, सेवा के पीछे खाना-पीना सब कुछ भुला देता है, पर जब बोलता है, तो कड़वा जहर! सुननेवालों के कलेजे जल जाते हैं। विचार कीजिए, वह सेवा किस काम की हुई?

कुछ लोग वाणी से बोलते हैं, तो ऐसा लगता है कि दूध में चीनी घोल रहे हैं, बहुत मीठे, शीतल, शिष्ट और सुन्दर। किन्तु, हृदय में देखो तो, सर्वनाश की कैंची चल रही होती हैं, बर्बाद कर देने की आरा मशीन चल रही होती है। किसी भोले-भाले गरीब का मिनटों में ही सब-कुछ साफ कर डालते हैं। तो, भला यह मीठी वाणी भी किस काम की?

बात यह है कि कर्म के साथ मन भी सुन्दर होना चाहिए, वाणी भी सुन्दर होनी चाहिए। मन, वाणी और कर्म का सम्यक् सन्तुलन होना चाहिए, तभी उनमें सर्वांगीणता आएगी और वे सुन्दर लगेंगे। तीनों का समन्वय ही जीवन की सुन्दरता है और तीनों का वैषम्य जीवन की कुरूपता है।

नम्रता और सरलता :

एक सज्जन हैं, बड़े ही विनम्र! कभी गर्म नहीं होते, ऊँचे नहीं बोलते। लाख कड़वी बात कह लीजिए, हंसते ही चले जाएँगे, पर हंसते-हंसते आखिरी दाव ऐसा लगाएँगे कि सामने वाला चारों खाने चित्त! बड़ी कुटिलता, धूर्तता भरी रहती है उनके मन में। नम्रता, कुटिलता छिपाने का एक कवच मात्र है, धोखे की टट्टी है! उस नम्र व्यक्ति को आप क्या कहेंगे—चीता है, धूर्त है! चूंकि आप जानते हैं—

> **"नमन नमन में फर्क है, सब सरिखा मत जान।**
> **दगाबाज दूना नमें, चीता, चोर, कमान॥"**

केवल झुक जाना कोई नम्रता नहीं है। शिकार को देख कर चीता भी झुकता है, मालिक को जगा देखकर चोर भी झुक-झुक कर छूछूंदर की तरह किनारे-किनारे निकल जाता है और कमान (धनुष) भी तीर फेंकने से पहले इतना झुकता है कि दुहरा हो जाता है। पर क्या वह नम्रता है, वह कोई सद्गुण है? 'जी नहीं!' मुझसे पहले ही आप निर्णय दे रहे हैं कि 'नहीं', क्योंकि वह एकांगी विनम्रता है, उसके साथ मन की सरलता नहीं है, हृदय की पवित्रता नहीं है। एकांगी विशेषता, सद्गुण नहीं हो सकती, सर्वांग वैशिष्ट्य ही सद्गुण का रूप ले पाता है।

एक बूंद : एक प्रवाह :

आप कहेंगे कि जीवन में समग्रता आनी चाहिए, यह बात तो ठीक है, पर एक साथ ही यह समग्रता, संपूर्णता कैसे आ सकती है? समग्र गुणों को एक साथ कैसे अपना सकते हैं?

मैं मानता हूँ, यह एक समस्या है, काफी बड़ी समस्या है। यदि गंगा के समूचे प्रवाह को एक ही चुल्लू में भरना चाहें, तो नहीं भर सकते, सुमेरु को एक ही हाथ से उठाकर तोलना चाहें, तो यह असम्भव है। एक ही छलांग में यदि समुद्र को लाँघने का प्रयत्न करते हैं, तो यह एक बुद्धिभ्रम ही कहा जाएगा। पर बात यह है कि एकांश ग्रहण के साथ हमारी बुद्धि उस एक अंश में ही केन्द्रित नहीं होनी चाहिए, सर्वांश ग्रहण का उदात्त ध्येय हमारे सामने रहना चाहिए। हमें बूँद में ही बंद नहीं हो जाना है, सुमेरु की तलहटी के एक पत्थर पर ही समाधिस्थ नहीं हो जाना है। हाथ में चाहे एक बूँद है पर हमारी दृष्टि गंगा के सम्पूर्ण प्रवाह पर है, पैरों के नीचे सिर्फ एक फुट भूमि है, किन्तु हमारी कल्पना सुमेरु की चोटी को छू रही है, तो मैं मानता हूँ कि यह एकांश ग्रहण, सर्वांश ग्रहण की ही एक प्रक्रिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः जीवन की, धर्म की एवं सत्य की सर्वांगता को स्पर्श करने का व्यापक एवं सम्यक् दृष्टिकोण हमारे पास होना चाहिए। कोई भी एक गुण हो, उसके सम्यक्-विकास में आप चाहे जितने गुणों का रूप निखार सकते हैं। हर गुण अनन्त स्वरूप है। अतः आप एक गुण के सहारे अनेक गुणों को धीरे-धीरे जीवन में अभिव्यक्त कर सकते हैं। सरल-भाव की नम्रता एक दिव्य गुण है।

अहिंसा : नम्रता का एक रूप :

अहिंसा भी नम्रता का ही एक रूप हैं। मन की कोमलता हृदय की पवित्रता, वाणी की मधुरता, ये सब नम्रता के ही स्वरूप है! मन की पवित्रता के बिना नम्रता अधूरी है, वाणी की मधुरता के बिना नम्रता लंगड़ी है। यदि मन में कोमलता और सरलता नहीं है, तो दिखाऊ नम्रता राक्षसी का-सा बेडौल रूप है। अतः ये सब गुण मिलकर ही तो अहिंसा का पावन रूप लेते है। कोमलता और मधुरता के बिना अहिंसा का अस्तित्व ही क्या? सृष्टि के समस्त चैतन्य के साथ जब तक आत्मानुभूति नहीं जगती, तब तक अहिंसा के विकास का अवसर ही कहाँ है? वैयक्तिक चेतना जब समष्टिगत चेतना के साथ एकाकार होती है, तो मानव मन स्नेह, सरलता एवं कोमलता से सराबोर हो जाता है, और यही तो अहिंसा का समग्ररूप है, सर्वांगीण विकास है।

व्यक्ति जब अपने से ऊपर उठकर समष्टि के साथ ऐक्यानुभूति करने लगता है—**'आयतुले पयासु'**— अर्थात् सबको आत्म-तुल्य समझने का सूत्र जब जीवन में साकार होने लगता है, तब अहिंसा अपने समग्र रूपों के साथ विकास पाती है।

अहिंसा के सम्बन्ध में यह एक बड़ी भ्रान्ति है कि वह साधु-संतों के जीवन का आदर्श होती है, गृहस्थ जीवन में उसका विकास नहीं हो सकता! किंतु मेरा विचार है कि अहिंसा के विकास और प्रयोग की संभावना जितनी गृहस्थ-जीवन में, पारिवारिक-जीवन में है, उतनी अन्यत्र कहीं है ही नहीं।

पारिवारिक भूमिका पर कोई भाई-बहन है, कोई पिता-पुत्र है, कोई माँ-बेटी है, कोई सास-बहू है, कोई पति-पत्नी है। इन सारे सम्बन्धों की भाषा पारिवारिक एवं सामाजिक भाषा है। कहा जा सकता है कि इस भाषा में राग हैं, मोह है, अतः इसमें बंधन भी है। परन्तु मेरी दृष्टि कुछ और है। राग भाषा में नहीं, भावना में होता है, बंधन दृष्टि में होता है। यदि इन्हीं शब्दों के साथ हमारी चेतना का विराट् स्वरूप जुड़ा हुआ हो, हमारी समष्टिगत चेतना का स्पंदन इनमें हो, तो ये ही उदात्त प्रेम, और वात्सल्य के परिचायक हो सकते हैं। इन्हीं शब्दों के नाद में कर्तव्य की उदात्त पुकार और प्रेरणा सुनी जा सकती है। नंदी सूत्र में जहाँ तीर्थंकरों की स्तुति की गई है, वहाँ भाव विभोर शब्दों में कहा गया है—**'जयइ जगपियामहो भयवं'**—जगत् के पितामह भगवान् की जय हो। भगवान् को जगत का पितामह अर्थात् दादा कहा है। इस शब्द के साथ वात्सल्य की कितनी उज्ज्वल धारा है। शिष्य के लिए 'वत्स' (पुत्र) शब्द का प्रयोग आगमों में अनेक स्थान पर होता रहा है, क्या इस शब्द में कहीं राग की गन्ध है? नहीं, इन शब्दों के साथ पारिवारिक-चेतना का उदात्तीकरण हुआ है, पारिवारिक-भाव विराट् अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

मनुष्य जाति की विरासत :

मैं मानता हूँ, मनुष्य जाति भाग्यशाली है, जिसमें पारिवारिक चेतना का विकास है। अन्य कौन-सी जाति एवं योनि है, जहाँ पारिवारिक भाव है? एक-दूसरे के प्रति समर्पित होने का संकल्प है? नरक में असंख्य-असंख्य नारक भरे पड़े हैं। एक पीड़ा से रोता है, तो दूसरा दूर खड़ा देख रहा होता है। कोई किसी को सांत्वना देने वाला नहीं, कोई किसी के आँसू पोंछने वाला नहीं। एक प्रकार की आपाधापी, लूट-खसोट, यही तो नरक की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहानी है। जिस जीवन में इस प्रकार की आपाधापी होती है, उसे हम यहाँ धरती पर भी तो नरक ही कहते हैं। जहाँ किसी के दुःख-सुख से किसी को कोई लगाव नहीं, वहाँ पारिवारिक भाव का कुछ भी स्पन्दन सम्भव है? पशु-पक्षियों की जाति में तो परिवार की कोई कल्पना ही नहीं, थोड़ा-बहुत है तो कुछ काल तक का मातृत्व भाव जरूर मिल जाता है, पर उसमें भी उदात्त चेतना की स्फुरणा और विकास नहीं है। देव योनी को हम सुख-भोग की योनि मानते हैं, वहाँ भी कहाँ है पारिवारिकता? वहाँ पितृत्व एवं मातृत्व तो कुछ है ही नहीं, पति-पत्नी जरूर होते हैं, पत्नी के लिए संघर्ष भी होते हैं, परन्तु पति-पत्नी का दाम्पत्य-भाव के रूप में, जो उदार भाव है, कर्तव्य और उत्तरदायित्व का, जो उच्चतम आदर्श है, वह तो नहीं है देव योनि में? शारिरिक बुभुक्षा और मोह की एक तड़प के सिवा और है क्या देवताओं में? अन्य की देवियों को चुराना, उपभोग करना और फिर योंही कहीं छोड़ देना। कुछ देव तो इसी मनो रोग के शिकार हैं। इसलिए मैं मनुष्य-जाति को ही एक श्रेष्ठ और भाग्यशाली जाति मानता हूँ, जिसमें विराट् पारिवारिक-चेतना का विकास हुआ है, स्नेह एवं सद्भाव के अमृत-स्रोत बहे हैं, उदात्त-सात्विक संबंधों के सुदृढ़ आधार बने हैं, तथा समर्पण का पवित्र संकल्प जगा है।

पारिवारिक भावना का विकास :

भगवान् ऋषभदेव को हम वर्तमान चालू मानव-सभ्यता के युग का आदि-पुरुष मानते हैं। किसलिए? इसीलिए कि उन्होंने व्यष्टि केन्द्रित मानव-जाति को समष्टिगत चेतना से पूर्ण किया, मनुष्य को परिवार-केन्द्रित रहना सिखाया, उसे सामाजिक कर्तव्य एवं दायित्व का बोध दिया।

भगवान् ऋषभदेव के पूर्व के युग में व्यक्ति तो थे, किन्तु परिवार नहीं था। यदि दो प्राणियों के सहवास को और उनसे उत्पन्न युगल संतान को ही परिवार कहना चाहें, तो भले कहें, पर निश्चय ही उसमें पारिवारिकता नहीं थी। परिवार का भाव नहीं था। वे युगल पति-पत्नी के रूप में नहीं, बल्कि नर-नारी के रूप में ही एक-दूसरे के निकट आते थे। शारीरिक वासना के सिवा उनमें और कोई आत्मीय सम्बन्ध नहीं था। वे सुख-दुःख के साथी नहीं थे, पारस्परिक उत्तरदायित्व की भावना उनमें नहीं थी। उनमें चेतना का ऊर्ध्वीकरण नहीं हुआ था। वह चेतना बिखरी हुई, टूटी हुई थी और थी अपने आप में सिमटी हुई। भगवान् ऋषभदेव ने ही उस व्यक्ति केन्द्रित चेतना को समष्टि के केन्द्र की ओर मोड़ा, कर्तव्य और उत्तरदायित्व का संकल्प जगाया, एक-दूसरे की सुख-दुःखात्मक अनुभूति का स्पर्श उन्हें करवाया। कहना चाहिए, निरपेक्ष मानस को संवेदनशील बनाया, व्यक्तिगत हृदय को सामाजिकता के सूत्र में जोड़ा। इसलिए जैन संस्कृति उन्हें— **"प्रजापतिः"** कह कर पुकारती है, प्रथम राष्ट्र निर्माता और धर्म का आदि कर्ता कहकर उनका अभिनन्दन करती है।

भगवान् ऋषभदेव ने जिस पारिवारिक चेतना का विकास किया था, वह एक तरह अहिंसा और मैत्री का ही विकास था। यह मैं मानता हूँ कि पारिवारिक चेतना में राग और मोह की वृत्ति जग जाती है, हमारा स्नेह और प्रेम वैयक्तिक आधार पर खड़ा हो जाता है, किन्तु फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि उसके तल में तो अहिंसा की सूक्ष्म भावना कहीं-न-कहीं अवश्य मिलेगी, करुणा और मैत्री की कोई-न-कोई क्षीण धारा बहती हुई अवश्य लक्ष्य में आएगी।

पलायनवादी मनोवृत्ति :

पारिवारिक चेतना में मुझे अहिंसा और करुणा की झलक दिखाई देती है, समर्पण और सेवा का आदर्श निखरता हुआ लगता है। प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था में चार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार के ऋण की चर्चा मिलती है।[1] कहा जाता है कि प्रत्येक मनुष्य पैदा होते ही ये चारों तरह के ऋण अपने साथ लेकर आता है। देव ऋण—(देवताओं का ऋण) ऋषि ऋण (ऋषियों का ऋण) पितृ ऋण (पूर्वजों का ऋण) और मनुष्य ऋण (परिवार, समाज व राष्ट्र के मनुष्यों का ऋण)।

ऋण का अर्थ यही है कि मनुष्य जन्म लेते ही सामाजिक एवं पारिवारिक कर्तव्य व उत्तरदायित्व के साथ बँध जाता है। मनुष्य ऋण का स्पष्ट मतलब यह है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति एक स्वाभाविक सहकार व दायित्व होता है, एक कर्तव्य की जिम्मेदारी होती है, जिससे वह कभी भी किसी भी स्थिति में भाग नहीं सकता। यदि उस ऋण को बिना चुकाए भागता है, तो वह सामाजिक अपराध है, एक नैतिक चोरी है। इस विचार की प्रतिध्वनि जैन आचार्य उमास्वाति के शब्दों में भी गूँज रही हैं—**"परस्परोपग्रहो जीवानाम्"** प्रत्येक प्राणी एक दूसरे-प्राणी से उपकृत होता है, उसका आधार व आश्रय प्राप्त करता है। यह प्राकृतिक नियम है। जब हम किसी का उपकार लेते हैं, तो उसे चुकाने की भी जिम्मेदारी हमारे ऊपर आती है। यह आदान-प्रतिदान की सहज वृत्ति ही मनुष्य की पारिवारिकता एवं सामाजिकता का मूल केन्द्र है। उसके समस्त कर्तव्यों, तथा धर्माचरणों का आधार है। यदि कोई इस पारिवारिक एवं सामाजिक भावना को, एकान्त मोह तथा राग की दुर्गन्ध बताकर, उससे दूर भागने की बात कहता है, तो मैं उसे पलायनवादी मनोवृत्ति कहूँगा। यह सिर्फ उथला हुआ एकांगी चिंतन है। वह विकास प्राप्त मानव-जाति को पुनः अतीत के गुहामानव की ओर खींचने का एक दुष्प्रयत्न मात्र है। यदि पारिवारिक राग और मोह से भागना ही उचित होता, तो भगवान् ऋषभदेव स्वयं पहल करके पारिवारिक व्यवस्था की नींव क्यों डालते? यद्यपि विवाह को आज तक किसी ने अध्यात्म-साधना का रूप नहीं दिया, किन्तु धर्म-साधना का एक सहायक कारण अवश्य माना है। गृहस्थाश्रम को साधु-जीवन का आधार क्यों बताया है? इसलिए कि उसमें मनुष्य की समाजिक चेतना सहस्ररूप होकर विकसित होती है। मनुष्य ने केवल वासना पूर्ति के लिए ही विवाह नहीं किया। वह तो आपकी चालू भाषा के अनुसार कहीं भी 'प्रासुक रूप' में कर सकता था, किन्तु इस वृत्ति को भगवान् ने असामाजिक बताया, महा पाप का रूप दिया, और पती-पत्नी सम्बन्ध को एक उदात्त नैतिक आदर्श के रूप में माना।

इस सम्बन्ध में एक बात और बता दूँ कि जैन-आचार-दर्शन ने पर-स्त्री के प्रति राग को अपवित्र एवं अनुचित राग माना है, जबकि स्व-स्त्री के राग को उचित, जीवन-सहायक राग के रूप में लिया है। यह बात इसलिए महत्त्व की है, चूँकि जैन-दर्शन को लोगों ने एकान्त रुद्र वैरागियों का दर्शन समझ लिया है। कुछ लोग इसे भगोड़ों का दर्शन कहते हैं, जिसका मतलब है कि घर-बार-परिवार छोड़कर जंगल में भाग जाओ।। यह एक भ्रान्ति है, महज गलत समझ है। जैन-दर्शन, जिसका प्राण अहिंसा है, मनुष्य को सामाजिक, पारिवारिक और राष्ट्रिय आदर्श की बात सिखाता है, करुणा, सेवा, समर्पण का संदेश देता है। नैतिक जिम्मेदारी और कर्तव्य को निभाने की बात कहता है। मैंने प्रारम्भ में ही आपको बताया कि प्रत्येक विचार के हजारों-हजार पहलू हैं, अनन्त रूप हैं। जब तक उसके सर्वांग चिंतन का द्वार नहीं खुलेगा, उसके सम्पूर्ण रूप को समझने की दृष्टि नहीं जगेगी, तब तक हम हजारों-हजार बार जैन-कुल में जन्म लेकर भी जैनत्व का मूल स्पर्श नहीं कर पाएँगे।

---

१. कुछ उत्तरकालीन ग्रन्थों में तीन ऋण प्रसिद्ध हैं—देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृऋण। किन्तु प्रारम्भ में चार ऋण माने जाते थे जैसा उल्लेख प्राप्त है—

ऋणं ह वै जायते योऽस्ति।

स जायमानो एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः—शतपथ ब्राह्मण, १, ७, २, १.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार भावनाएँ :

जैन धर्म में चार भावनाओं की विशेष चर्चा आती है। आचार्य उमास्वाति ने, जिन्होंने जैन-दर्शन को सर्वप्रथम सूत्र रूप में प्रस्तुत किया, चार भावनाओं को व्यवस्थित रूप में गूँथा है। बीज रूप में आगमों में वे भावनाए यत्र-तत्र अंकुरित हुई थी, किन्तु उमास्वाति ने उन्हें एक धागे में पिरोकर सर्वप्रथम पुष्पहार का सुन्दर रूप दिया। आचार्य अमितगति ने उन्हीं को अभ्यर्थना के एक श्लोक में इस प्रकार ग्रथित किया है---

> **"सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं,**
> **क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।**
> **माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ,**
> **सदा ममात्मा विदधातु देव॥"**

मैं समझता हूँ, सम्पूर्ण जैन-सहित्य में से यदि यह एक श्लोक ही आखिर तक हमारे पास बचा रहे, तो सब कुछ बचा रहेगा।

सत्त्वेषु मैत्रीम्---यह एक ऐसा आदर्श है, जिसका स्वर वेद, उपनिषद्, आगम और पिटक---सर्वत्र गूँज रहा है। मैत्री-भावना मन की वृत्तियों का बहुत ही उदात्त रूप है, प्रत्येक प्राणी के साथ मित्रता की कल्पना ही नहीं, अपितु उसकी सच्ची अनुभूति करना, उसके प्रति एकात्मभाव तथा तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करना, वास्तव में चैतन्य की एक विराट् अनुभूति है। मेरा तो विश्वास है कि यदि मैत्री-भावना का पूर्ण विकास मानव में हो सके, तो फिर यह विश्व ही उसके लिए स्वर्ग का नन्दन कानन बन जाए। जिस प्रकार मित्र के घर में हम और हमारे घर में मित्र निर्भय, और निःसंकोच भाव से सहज स्नेह और सद्भावनापूर्ण व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार समस्त विश्व को भी हम परस्पर मित्र के घर के रूप में देखें। कहीं भय, संकोच एवं आतंक की लहर नहीं हो । कितनी सुखद और उदात्त भावना है यह! व्यक्ति-व्यक्ति में मैत्री हो, परिवार-परिवार में मैत्री हो, समाज-समाज तथा राष्ट्र-राष्ट्र में मैत्री हो, तो फिर आज की जितनी समस्याएँ हैं, वे सब निर्मूल हो सकती हैं। मार-काट, धोखा-घड़ी और लूट-खसोट से लेकर परमाणु-शस्त्रों तक की विभीषिका इसी एक भावना से समाप्त हो सकती है।

गुणिषु प्रमोदम्---दूसरी भावना का स्वरूप है गुणीजनों के प्रति प्रमोद! किसी की अच्छी बात देखकर, उसकी विशेषता और गुण देखकर कभी-कभी हमारे मन में एक अज्ञात ललक, हर्षानुभूति होती है, हृदय में आनन्द की एक लहर-सी उठती है, बस यह आनन्द एवं हर्ष की लहर ही प्रमोद-भावना है। किन्तु इस प्रकार की अनुभूति के अवसर जीवन में बहुत ही कम आते हैं---ऐसा मुझे लगता है।

मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता यही है कि वह दूसरों की बुराई में बहुत रस लेता है। ईर्ष्या और डाह का पुतला होता है। दूसरे किसी का उत्कर्ष देखता है, तो जल उठता है। पड़ौसी को सुखी देखता है, तो स्वयं बेचैन हो जाता है। अपने से बढ़कर किसी ने कुछ सत्कर्म कर दिखाया, तो बस उसे व्यंग, ताना आदि के चुटीले शब्दों से बींध डालने की कोशिश करते हैं। जीवन की यह बड़ी विषम स्थिति है। मनुष्य का मन, जब देखो तब ईर्ष्या, डाह, प्रतिस्पर्धा में जलता रहता है। ऐसी स्थिति में गुणीजनों के प्रति प्रमोद भाव हो, तो कैसे हो?

ईर्ष्या की आग कभी-कभी इतनी विकराल हो जाती है कि मनुष्य अपने भाई और पुत्र के उत्कर्ष को भी फूटी आँखों नहीं देख सकता। एक ऐसे पिता को मैंने देखा है, जो अपने पुत्र की उन्नति से जला-भुना रहता था। पुत्र बड़ा प्रतिभाशाली और तेज था, पिता के सब व्यापार को संभाल ही नहीं रहा था, बल्कि उसको काफी बढ़ा भी रहा था। मिलनसार इतना कि जो भी लोग आते, सब उसे ही पूछते। सेठजी बैठे होते, तब भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूछते—वह कहाँ है ? बस सेठ जल उठता—"जो भी आते हैं, पूछते हैं. . . . . . . .वह कहाँ है। कल का जन्मा छोकरा, आज बन गया सेठ। मुझे कोई पूछता ही नहीं। सेठ तो मैं हूँ, उसका बाप हूँ।"

मैं समझता हूँ, यह पीड़ा, यह मनोव्यथा एक पिता की ही नहीं, आज अनेक पिता और पुत्रों की यही व्यथा है, भाई-भाई की भी यही पीड़ा है। इसी पीड़ा से पति-पत्नी भी कसकते रहते हैं और अड़ोसी-पड़ोसी भी इसी दर्द के मरीज होते हैं। ईर्ष्या और जलन आज राष्ट्रिय बीमारी ही क्या, अन्तर्-राष्ट्रिय बीमारी बन गई है। और इसीलिए कोई सुखी एवं शांत नहीं है।

इस बीमारी के उपचार का यही एक मार्ग है कि हम प्रमोद भावना का अभ्यास करें। जहाँ कहीं भी गुण है, विशेषता है, उसे साफ चश्मे से देखें। व्यक्ति, जाति, धर्म, सम्प्रदाय और राष्ट्र का चश्मा उतार कर उसे केवल गुण-दृष्टि से देखें, उसका सही मूल्यांकन करें और गुण का आदर करें! यह निश्चित समझिए कि आप यदि स्वयं आदर-सम्मान पाना चाहते हैं, तो दूसरों को भी आदर और सम्मान दीजिए। अपने गुणों की प्रशंसा चाहते हैं, तो औरों के गुणों की भी प्रशंसा कीजिए!

मैत्री एवं प्रमोद भावना का विकास, मन में प्रसन्नता, निर्भयता एवं आनंद का संचार करता है।

क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्—तीसरी भावना करुणा है। करुणा मन की कोमल वृत्ति है, दुःखी और पीड़ित प्राणी के प्रति सहज अनुकम्पा, मानवीय संवेदना जग उठती है और हम उसके प्रति सहानुभूति का हाथ बढ़ाते हैं। करुणा मनुष्य की सामाजिकता का मूल आधार है। अहिंसा, सेवा, सहयोग, विनम्रता आदि हजारों रूप इसके हो सकते हैं और उन सबका विकास करना ही जीवन को पूर्णता की ओर ले जाना है।

माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ—माध्यस्थ-भावना मन की एक तटस्थ स्थिति है। जीवन, जीवन है। जीवन में कोई किसी का विरोध भी कर सकता है, कोई किसी के प्रतिकूल भी हो सकता है, ऐसी स्थिति में क्षुब्ध न होना माध्यस्थ-भावना है। इसी प्रकार असफलता की स्थिति में मनुष्य का उत्साह निराशा में न बदले, मन उत्पीड़ित न हो और मोह-क्षोभ के विकल्पों से मन परास्त न हो, यह भी माध्यस्थ-भावना का सुफल है।

जीवन को सर्वांग सुन्दर बनाने के लिए उसका सर्वांगीण विकास करना आवश्यक है। जीवन में समस्त सद्गुणों का उद्भव और पल्लवन किए बिना मानवता के मधुरतम फल नहीं प्राप्त हो सकते। किसी भी एक सद्गुण को लेकर और उसके जितने भी स्रोत हैं, जितने भी अंग हैं, उन सबका विकास करके ही उसमें पूर्णता और समग्रता का निखार आ सकता है।

जैन-दर्शन ही क्या, समस्त भारतीय दर्शनों का यह सिद्धान्त है—एक में अनेक और अनेक में एक। किसी भी एक गुण को लेकर उसके अनन्त गुणों का विकास किया जा सकता है। उदाहरण मैंने आपके समक्ष प्रस्तुत किया है कि अहिंसा का एक गुण ही जीवन के समग्र गुणों का मूल बन सकता है। विनम्रता, मधुरता, कोमलता, मैत्री एवं प्रमोद भावना, करुणा और माध्यस्थवृत्ति ये सब भी अहिंसा के ही अंग हैं। अहिंसा का संपूर्ण विकास तभी हो पाएगा, जब जीवन में उक्त सद्वृत्तियों का सम्यक् विकास होगा। तभी हमारी साधना, जो सहस्रधारा के रूप में बहती रही है, समग्र साधना बन सकती है और जीवन तथा जगत् के समस्त परिपार्श्वों को परिप्लावित कर सकती है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org